

संवाद की सार्थकता तभी है जब उसके मूल में सच्ची चिंता और बदलाव के प्रति तीव्र इच्छा हो। हमारे लिए यह प्रीतिकर अनुभव है कि संवाद के प्रति ऐसा गंभीर सरोकार मौजूद है। हम इसे सामने लाने की कोशिश में हैं। इस बार यदि अब तक लगभग सार्वजनीन हो चुके 'न्यूनतम अधिगम स्तर' पर प्रतिवाद किया गया है तो दूसरी ओर 'विमर्श' पर प्रतिक्रिया के बहाने ही सही शिक्षा के भाषायी माध्यम और शिक्षा में देशज संस्कृति के क्षरण जैसे ज्वलंत मसलों को उठाया गया है। संवाद के लिए कोई कृत्रिम उपक्रम कारगर नहीं हो सकता लेकिन सहज खुलती बातचीत के प्रति हमारी जिज्ञासा बनी रहेगी।

न्यूनतम अधिगम स्तर : दूसरा पहलू

□ प्रभा

देश में इस समय प्राथमिक शिक्षा में गुणात्मक सुधार लाकर उसके सार्वजनीनकरण की बाह्यवित्त पोषित परियोजनाएं मुहिम के तौर पर शुरू हुई हैं। राजस्थान में भी लोकजुम्बिश तथा जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम के माध्यम से गुणात्मक प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीनकरण के कार्य को निष्पादित किया जा रहा है। गुणात्मक सुधार के लिए राष्ट्रीय शिक्षा नीति के अन्तर्गत स्वीकार की गई न्यूनतम अधिगम स्तर योजना को लागू किया जा रहा है। इसके लिए बड़े पैमाने पर पुस्तकें तैयार कर शिक्षकों के प्रत्येक वर्ष आवर्ती प्रशिक्षण किए जा रहे हैं। इस पाठ्यक्रम के अन्तर्गत विषय वस्तु के छोटे-छोटे टुकड़ों में बांट कर उन्हें कक्षा-कक्ष में बच्चों को पढ़ाना तय किया गया है। विषयवस्तु के प्रत्येक टुकड़े को 'दक्षता' कहा गया है। कुछ परीक्षण यह भी बता रहे हैं कि इससे बच्चों का उपलब्धि स्तर बढ़ा है।

इन सबके बावजूद न्यूनतम अधिगम स्तर पाठ्यक्रम का दूसरा पक्ष भी है। उसे जान लेना भी जरूरी है। जब तक किसी भी चीज के दोनों पक्ष मालूम न हों तो उसको अपनाना एक नया अंधविश्वास बन सकता है। न्यूनतम अधिगम स्तर का दूसरा पक्ष इस प्रकार है -

1. न्यूनतम अधिगम स्तर पाठ्यक्रम में मूल्यांकन की विधा की एकरूपता होने के कारण बच्चों की विविध योग्यताओं पर आधारित शिक्षण विधाओं को नकार दिया गया है।

2. न्यूनतम अधिगम स्तरों के माध्यम से सीखने का अति-मानकीकरण हो जाने से पूरी शैक्षिक प्रक्रिया नई जड़ता में चली गई है। ज्ञान की समग्रता को इससे आघात पहुंचा है।

3. न्यूनतम अधिगम स्तरों ने पाठ्यक्रम को एक नये अति-नियंत्रित सार्वजनीन सांचे में ढाल दिया है।

4. न्यूनतम अधिगम स्तर पाठ्यक्रम में बच्चों के सीखने में गति तथा ढंगों में लचीलेपन के लिए कोई गुंजाइश नहीं।

5. इस पाठ्यक्रम से शिक्षकों को पहल करने तथा स्थानीय सांस्कृतिक संदर्भों को पाठ्यक्रम में शामिल करने के अवसर समाप्त हो गए हैं।

न्यूनतम अधिगम स्तरों तथा दक्षता-आधारित शिक्षण का उद्गम स्थल व्यवहारवाद है। व्यवहारवाद के जनक एडवर्ड थार्नडाइक, जैम्स वाटसन आदि रहे हैं। उन्होंने पशुओं के जीवन तथा व्यवहार के बारे में खोजें की और यह प्रतिपादित किया कि मनोविज्ञान तथा सीखने की प्रक्रियाएं तो केवल व्यवहार तथा उसके उद्दीपन से संबंध रखती हैं। इस तरह का व्यवहारवादी शिक्षण मुख्यतः यांत्रिक है तथा मनुष्य को चेतनारहित यंत्र मानता है जो सदैव बाह्य प्रक्रियाओं के दोहरान पर बल देती है और चेतना को गतिशील नहीं मानती। ना ही चेतनता को स्वयं में सीखने का एक निवेश मानती है। व्यवहारवादियों के लिए चेतना की विद्यमानता इसलिए नहीं है क्योंकि इसे मापा नहीं जा सकता है। अतः उनके लिए यह एक ब्लैक बॉक्स है। व्यवहारवादी शिक्षण प्रक्रियाएं इस तथ्य पर आधारित हैं कि समस्या समाधान तो केवल प्रयत्न-सुधार पद्धति से हो सकता है। दरअसल दक्षता आधारित शिक्षण मनुष्य व पशुओं के व्यवहार के बीच गुणात्मक अंतर को महत्व नहीं देता।

दक्षता आधारित शिक्षण का उद्देश्य बच्चों को छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटी कुछ आदतों के द्वारा नियमन करके उनको याद रखने में पारंगत करना है। पूरी प्रक्रिया यांत्रिक है और मजे या मनोरंजन के रूप में प्रस्तुत कर के एक धोखे के रूप में चेतना को सार्वजनिक तरीके से यांत्रिक बनाने की व्यवहारवादियों की एक नई चाल है। ♦

देशज संस्कृति का क्षरण

□ प्रो. जे.एस. राजपूत

विमर्श के प्रथम चार अंक प्राप्त हुए। प्राप्ति के सुख के साथ पढ़ने का आनन्द तथा बहुत कुछ नया जानने का संतोष भी मिला।

शिक्षा के क्षेत्र में पत्रिका निकालना बहुत ही कठिन और दुरुह कार्य है। आपने यह जानते हुए भी प्रयास आरंभ किया है। इसमें सफलता की संभावनाएं इन चारों अंकों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। आपके सहयोगी वे कर्मठ लोग हैं जो क्रियान्वयन का अनुभव रखते हैं। जाने-माने शिक्षाविदों का सहयोग भी आपको प्राप्त है। पत्रिका वर्तमान स्वरूप में किसके लिए है और इसे किसके लिए होना चाहिए, यह प्रश्न कठिन है। आप इसका उत्तर ढूंढ ही रहे होंगे। हमारी शिक्षा प्रणाली प्रश्नों को ढूंढने और उनके उत्तर खोजने में विश्वास नहीं करती। मैं भी उसी की उपज हूँ। अतः आपके द्वारा खोजे गये उत्तर को जानने की उत्सुकता बनी रहेगी। वैसे यदि यह प्रश्न सतत बना रहे और उत्तर खोजने की प्रक्रिया भी साथ साथ चलती रहे तो उपलब्धियां अत्यन्त सृजनात्मक और उपयोगी होंगी।

लगभग 50 लाख अध्यापक इस देश में स्कूलों में पढ़ाते हैं। इतने बड़े वर्ग को अधिकतर लांछन तथा निन्दा ही मिलती रहती है। शिक्षा-नीति निर्धारण, क्रियान्वयन की रणनीति और क्या पढ़ायें - क्या सिखायें, आदि में इन अध्यापकों की भागीदारी लगभग नगण्य रहती है। यह वर्ग क्या करे, कैसे करे का निर्धारण किसी अन्य स्तर पर तथा अन्य लोगों द्वारा होता है और बाद में अध्यापकों तक पहुंचा दिया जाता है। अब इस प्रक्रिया का अन्तर्राष्ट्रीयकरण हो गया है। पैसा विदेश से आ रहा है, खूब खर्च हो रहा है, निर्धारित तिथि के पहले खर्च करना आवश्यक होता है। विशेषज्ञ भी बाहर से आते हैं। हमें प्राथमिक शालाओं में क्या करना चाहिये, यह बताकर फिर वापस आने के लिये लौट जाते हैं। उत्तर प्रदेश के एक गांव के कक्षा तीन के बालक से मैंने पूछा -

- स्कूल जाते हो ?
- हां, जाता हूँ।
- किस स्कूल में पढ़ते हो ?
- वर्ल्ड बैंक स्कूल में।
- कैसा है तुम्हारा स्कूल ?
- बाकी सब स्कूलों से अच्छा है।

ग्यारह वर्ष का यह बालक नहीं जानता कि वर्ल्ड बैंक क्या होता है, परन्तु उसकी शिक्षा-दीक्षा वर्ल्ड बैंक स्कूल में हुई, इसलिए

वह इसे जीवनपर्यन्त याद रखेगा। संभवतः अभी उसे इस बात का अहसास न हो कि जिस पैसे से उसका स्कूल चल रहा है, वह कर्ज है और 30 वर्षों तक देश को यह कर्ज चुकाना होगा।

हमारी भाषा और संस्कृति बदल रही है। कर्ज देने वालों को सहायता या दान देने वाला कहा जाता है। नये चिन्तन की धारा कितनी फले-फूलेगी, इसकी चिन्ता करने का समय संभवतः किसी के पास नहीं है। आपने भी देखा होगा कि एक नयी दौड़ आरंभ हुई है। इन परियोजनाओं से जुड़ने के लिये। यह दौड़ कथित रूप से प्राथमिक शिक्षा की प्रगति के लिए है। शायद कुछ ऐसी प्रगति के लिए भी हो जिसका खुलासा करना आवश्यक न हो। मेरा अनुभव है कि इस समय सरकारी सहायता और साधनों पर लोगों की निर्भरता बढ़ती जा रही है। स्कूल गांव के स्कूल न होकर सरकारी स्कूल रह गये हैं और उनकी अर्थव्यवस्था और संचालन में लोग भले ही औपचारिक दृष्टि से जुड़े हुए हों, परन्तु भावनात्मक रूप से दूर होते जा रहे हैं।

प्राथमिक शिक्षा का सार्वजनीकरण इस देश में संभव हो सके इसके लिए पिछले कई दशकों में देश ने अनेक अनुभव इकट्ठे किये हैं। अनेकानेक नवाचार प्रारंभ हुए और इनमें बहुत से अपने-अपने दायरे में सफल भी रहे। यह अलग बात है कि शिक्षा व्यवस्था में इस सफलता के अनुभव को भी वैसे ही दरकिनार किया गया जैसे असफल परिवर्तनों को भुलाया गया है। परिवर्तन हर क्षेत्र में बहुत ही तीव्र गति से हो रहे हैं, लेकिन शिक्षा के क्षेत्र में इसकी गति अभी भी सीमित ही है। ऐसी अवस्था में वे विचार, अनुभव और व्याख्याएं जो लोगों को चिन्तन के लिए प्रेरित कर सकें, स्वागत योग्य हैं। 'विमर्श' के अंक पढ़कर ऐसा लगा कि ऐसे ही उद्देश्य से आपने ये प्रयत्न प्रारंभ किये हैं।

मूल प्रश्न यह है कि व्यवस्था की जो धाराएं पिछले पांच दशकों से रेंग रही हैं उन्हें किस प्रकार शक्ति दी जाये और उनमें अपने पैरों पर खड़े होने की सामर्थ्य उत्पन्न की जाये। इस समय बाहर के कितने ही शुभचिन्तक हमारी सहायता करने के लिए उत्सुक हैं। वह चाहते हैं कि हम उनसे केवल धन ही न लें, बल्कि उनके विचार, उनकी संस्कृति, उनकी अवधारणाएं, यहां तक कि उनके बताये ढंग से पुस्तकों का लिखना तथा भवनों का निर्माण भी किया जाये। जब तक आन्तरिक व्यवस्था इस सहयोग से विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से देखने की क्षमता पैदा नहीं करती, तब तक यह आशंका बनी रहेगी कि बाहर

से आने वाला सैलाब अन्दर की बहने वाली नदियों का अस्तित्व ही कुछ समय के लिए ढक दे । 'विमर्श' अपने पाठकों में

आत्मविश्वास जगाकर उनका पथ-प्रदर्शन एवं प्रगति बोध करे तथा साथ ही साथ उन्हें क्रियान्वयन में लगने की प्रेरणा भी दे । ऐसा सोचना संभावना के क्षेत्र में स्पष्ट दिखाई देता है । ♦

मातृभाषा माध्यम का हास

□ रामकुमार कृषक

विमर्श जैसे उद्गम को लेकर इस पत्र की शुरुआत कैसे करूं, यही सोचता रहा हूँ । इधर सोच ही सोच तो बाकी रह गया है - निष्क्रिय सोच, बेरोजगारी के गहरे दलदल में फंसा ।

इधर 'विमर्श' पर रायजनी के लिए एक प्रारूप भी मिला । इससे पत्रिका के 4-5 अंक पाकर भी अपनी राय न भेज पाने की शर्मिंदगी और अधिक बढ़ गई । साथ ही यह भी लगा कि पाठकों को आप यों ही सस्ते में नहीं छोड़ने वाले । दूसरे शब्दों में, 'विमर्श' को लेकर आपकी जो प्रतिबद्धताएं और चिंताएं हैं, उसमें पाठकों को भी शामिल करने के लिए बाजिद हैं आप लोग ।

मैं इस साथीपन की कद्र करता हूँ मेरे भाई ।

'विमर्श' के बहुत सारे तरो-ताजा स्तम्भ पढ़ते हुए एक तो अपने प्राइमरी से लेकर मिडिल तक के स्कूल याद आते रहे । साथ ही यह भी याद आता रहा कि अरे, नाक बहने से पेशाब निकलने तक की वे तमाम-तमाम घटनाएं भी हमारे शैक्षिक विमर्श का हिस्सा बनने वाली थीं । कई संस्मरण तो बड़े भंयकर हैं उन दिनों के, कुछ-कुछ अश्लील भी, जबकि उन दिनों वे सिर्फ कौतुक जैसे ही थे । यह अलग बात है कि कई मास्साहबों को सबक सिखाने की भावना भी उनके पीछे रही हो । लेकिन शिक्षा की वह अशिक्षित दुनिया अब कहां रही । अब तो कान्वेंटी एजूकेशन का बोलबाला है, स्कूलों के व्यवसायीकरण, बच्चों के आंग्ल सैनिकीकरण का दौर ।

आपकी संकल्पना, परिकल्पना प्रशंसनीय है, प्रेरक और अनुकरणीय भी । पांचों अंकों में मौजूद विविध सामग्री इसका प्रमाण है । हमारी शिक्षण प्रविधि के बड़े-बड़े जानकारों, विशेषज्ञों का विश्वस्तरीय चिंतन, उनकी चिंताएं, क्या कुछ नहीं कर देने वाली, लेकिन कर देने का यह सवाल ही बुनियादी सवाल है, जैसे कि मैंने अपने संदर्भ में शुरु में ही कहा - निष्क्रिय चिंतन ।

तमाम चीजों की तरह, शिक्षा भी शुरु से ही मैकाले के पूर्व भी अगर आप जाएं तो, गुरुकुलों तक -सामंती फिर बुरुवा वर्ग के नियंत्रण में रही है । श्रम संस्कृति से सदा ही उसने एक दूरी बनाकर रखी । फिर वह चाहे घर में आठों पहर खटने वाली स्त्री थी या किसान या मजदूर । और स्थिति आज भी कोई बेहतर नहीं

हैं, ग्लोबलाइजेशन और इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करने की महान तैयारियों के बावजूद सार्वजनिक या सरकारी शिक्षा व्यवस्था के निरंतर सिकुड़ते जाने के परिणामास्वरूप नवधनाढ्य बूर्जवाजी ने आज प्रायः निजी शिक्षा संस्थानों के रूप में जो विराट तंत्र खड़ा कर लिया है और जो हमारी श्रमशील जनता को उसी के पसीने और लहू में डुबोकर मार डालने की अमानवीय असंस्कृत लुटेरी सामाजिकता को जन्म दे रहा है, उसे रोकने और खत्म करने में हमारा बौद्धिक विमर्श किस हद तक, किस तरह कारगर होगा, यह भी सोचा जाना चाहिए ।

लगता है जैसे हमारा आज एक फौलादी चौखटे में जड़ दिया गया है । इसे कैसे तोड़ा जाय ? सुधार का मैं विरोधी नहीं, पर सुधारवाद से सहमत नहीं हो पाता । अब इस व्यवस्था के स्थायित्व के बावजूद शिक्षा की कोई वैकल्पिक व्यवस्था कैसे खड़ी की जा सकती है ? यह सवाल है । इसका जवाब या जवाब की संभावना तब हो सकती है जबकि एक वैकल्पिक राजनीतिक बदलाव की भी कारगर कोशिशें हो रही हों । हो रही हैं, पर उनका चरित्र भी या तो समझौतावादी है या व्यक्तिवादी है । पार्टियां और मार्क्सवादी पार्टियां या तो आपसी वर्चस्ववादी मारकाट में लगी हैं, या एक-एक कामरेड के कंधे पर पड़े थैले में झूल रही हैं ।

भाषा का सवाल, माध्यम का सवाल अंग्रेजी के चलते जैसे आज एकदम गैरजरूरी हो गया है । 'राष्ट्रभाषा' का तो इस संदर्भ में जिक्र करना ही गुनाह है, पर राष्ट्रीय भाषाएं भी कहां है ? जन-जीवन में बोलने भर का या मनोरंजन करने वाला रिश्ता ही बचा रह गया है उनसे । बच्चों पर, अभिभावकों पर, अंग्रेजी का आतंक जारी है । पालना छोड़ते ही अंग्रेजी के आकाश में उछाल दिया जाता है बच्चों को । शैक्षिक ही नहीं, साहित्यिक - सांस्कृतिक संगठनों, संस्थानों के नाम तक अंग्रेजी में रखने का चलन बढ़ता रहा है; और यह पूरे देश में है, हिंदी क्षेत्र में सर्वाधिक । हम देश विदेश में व्याप्त प्रभावी वर्ग द्वारा नियंत्रित राजनीतिक और आर्थिक गुलामी के साथ-साथ सांस्कृतिक गुलामी की ओर बढ़ रहे हैं । और अंग्रेजी इसका सबसे सहज सबसे कारगर हथियार बनी हुई है । विमर्श इसके विरुद्ध होना चाहिए । भाषा सिर्फ माध्यम ही नहीं है, वह एक जीवन-संस्कार है । उसकी अपनी एक सामाजिकता है ।

अंग्रेजी इस देश के नौनिहालों को उनकी जड़ों से उखाड़ रही है। नर्सरी में तैयार पौधों से सिर्फ गमलों को सजाया जा सकता है, खेतों में फसलें नहीं उगाई जा सकती। यह दुनिया एक हो पर एक-सी न हो, यह सावधानी और विवेक चाहिए। अंग्रेजी विश्व-साम्राज्यवाद का व्यावसायिक हथियार बनी हुई है इन दिनों। ज्ञान विज्ञान की आड़ में गुलामी के गर्त में धकेल रही है वह हमें। जब तक उसे सत्ता का सहारा है और हमें उसका, तब तक भारतीय भाषाएं, जनता की भाषाएं निरंतर अविकसित और अक्षम ही बनी रहेंगी। शिक्षा के अंग्रेजीपरस्त परिवेश और ढांचे को आमूल बदले जाने की आवश्यकता सर्वोपरि है।

कौन बदलेगा इसे ?

जनता ।

जनता कहाँ है ?

उसे खोजना होगा बल्कि इसके लिए तैयार करना होगा।

भाई, मैं समझ नहीं पा रहा कि मैं क्या लिखूँ ? पत्रिका में आपकी जो मूल्यवान सामग्री है, उसका, व्यावहारिकता से आए चिंतन का अपना महत्व है पर चिंतन से भी व्यावहारिकता का जन्म होगा, ऐसी आशा ही की जा सकती है।

बौद्धिक बोझिलता 'विमर्श' में कुछ ज्यादा है। आंकड़े बहुत हैं, वे भी यूरोपीय। ये कुछ कम हों, अपने लोगों के हों। शायरी, संस्मरण, शब्दचित्रों के माध्यम से ऐसा आप कर भी रहे हैं, कविताएं-कहानियां भी है। यों 'विमर्श' है तो तंग तो करेगा ही।

बेटियां पढ़ रहीं हैं अंकों को। दोनों प्राइमरी स्कूल में टीचर हैं। आशा है, कुछ नया पा सकेंगी वे। ♦

बुरे शिक्षक और भ्रष्ट प्रबंधक

□ मूलचंद गौतम

निरंतर परिष्कार से पत्रिका 'विमर्श' का स्वरूप निखर रहा है। उसी अनुपात में अपेक्षायें भी बढ़ना स्वभाविक है। इसी क्रम में कुछ बुरे शिक्षक और भ्रष्ट प्रबंधकों पर भी ध्यान दें, सर्वेक्षण करायें। परिवार में पिता के सामंती आचरण के समान्तर शाला में शिक्षक की दरोगाई भी बच्चों पर कम अत्याचार नहीं करती थी। मां-बाप भी बच्चों को पीटने वाले शिक्षकों को न केवल आदर देते थे, बल्कि साफ तौर पर कहते थे, 'मांस-मांस आपका, हड्डी-हड्डी हमारी', यह भय बहुतों का जीना हराम कर देता था।

इलाके में मेरे खुद के बाबा की मार के किस्से उनके शिष्य आज तक बड़े गौरव से बयान करते हैं- उनके नरम डंडे की मार (रस्सी से पिटाई) से बने-बिगड़े, स्कूल छोड़ बैठने वालों की बातों से लगता है कि काश उनके पास कोई हथियार भी होता।

नाभि से पकड़ कर उठा देने व कान की खिंचाई मुझे भी खूब याद है। साथ ही पीटने वाले शिक्षकों के प्रति उभरा मानसिक गुस्सा और बदला लेने की कल्पनाएं जीवंत हो उठती हैं। ठीक यही भावना बिना गलती के पिता से पिटने पर भी होती थी। यह छवि सद्गुरु से तो नहीं मिलती थी। आगे चलकर भी कुछ ऐसे शिक्षक मिले जो कभी सीधे मुंह बात करना गवारा नहीं करते थे। उनके प्रति मन में आज तक कोई आदर नहीं पनपा। और आज तो -

हरई शिष्य धन सोक न हरई ।

सो गुरु घोर नकर मेंई परई ॥

किस्म के गुरुओं का बाहुल्य है।

गुरु सिख अंध बधिर कर लेखा ।

एक न सुनइ एक नहीं देखा ॥

किस्म की धक्कापेल के बीच बुरे प्रबंधकों से भी साबका पड़ रहा है। अच्छा हो 'विमर्श' में कभी 'राग दरबारी' (श्रीलाल शुक्ल का एक विख्यात उपन्यास) का शैक्षिक विवेचन करें - करायें, तो यह पक्ष भी उभरे। सबसे बड़ा उपनिवेश तो यहां है।

और भाजपा की सरकारों ने तो हद कर दी। सरस्वती शिक्षु मंदिरों के आचार्यों की तरह धोती-लंगोटी मात्र देने की तमन्ना पाले संस्कृति के ये कर्णधार क्या कर रहे हैं, कभी इस पर भी गौर करवायें। शिक्षकों को नये वेतनमान नहीं देने को कृत संकल्प ये कर्णधार उन्हें फिर निजीकरण के कोल्हू में पेल देने को कटिबद्ध हैं। तब क्या होगा, खुदा जाने! सुदामा के अनेक अवतार देश में दिखाई देंगे - मानविकी के शिक्षकों की दयनीय आर्थिक स्थिति-विज्ञान, वाणिज्य, अंग्रेजी के शिक्षकों की अपेक्षा-क्या है, यह कहने की बात नहीं। 'आधी बोरी आलू' ('विमर्श' के चौथे अंक में प्रकाशित ऊषा शर्मा का संस्मरण) अब पूरी बोरी हो गया है। जरूरी है कि 'विमर्श' यह हिस्सा भी शामिल करे और कारगर तरीका सुझाये कि ऐसी स्थिति में क्या हो : क्या शिक्षा की दुकाने ही हमारी स्वाधीनता का लक्ष्य थीं ? ♦